

संस्कृत वाङ्मय में अर्थ की अवधारणा

डॉ. जे.सी. नारायणन्

विभागाध्यक्ष, संस्कृत विभाग, गौरी देवी राजकीय महिला महाविद्यालय, अलवर
मो. 9414681040

भारतीय संस्कृति में पुरुषार्थचतुष्टय का विधान मानव के व्यक्तित्व-विकास का सर्वोच्च सोपान है। प्राचीन आर्यों ने अपने प्रभूत श्रेष्ठ चिंतन से प्रत्येक पुरुषार्थ पर गंभीर मनन किया और विभिन्न सिद्धान्तों की स्थापना की। उनमें अर्थ का प्राधान्य है। अर्थ की प्राप्ति, संग्रह, अर्जन, प्रबधन आदि विशिष्ट आयामों में प्रत्येक के लिये व्यापक चिन्तन, प्राचीन संस्कृत साहित्य में समुपलब्ध है। 'अर्थ' ही वह आधार है, जो समस्त भौतिक संसाधनों का प्रदाता है जिससे मोक्षप्राप्ति का मार्ग प्रशस्त होता है। भारतीय मनीषियों ने धर्मार्थकाममोक्ष के क्रम में धर्माधिरत अर्थ की परिकल्पना की। धर्म की आधारभूत इहलोक ही है वर्णश्रम का सम्बन्ध भी इस लोक से है परलोक से नहीं।

अर्थार्जन व उपयोग में अर्थ की पवित्रता अपेक्षित है। सदवृत्ति से अर्जित धन ही योगक्षेम का संवाहक होता है। आचार्य मनु ने सभी पवित्रताओं में अर्थ की पवित्रता को श्रेष्ठतम माना है। अर्थ को धर्म से नियन्त्रित किया जाता है क्योंकि अर्थ तभी तक श्रेष्ठ है जब तक कि वह अधर्म की ओर प्रवृत्त नहीं होता है। अर्थ-शुचिता, श्रेष्ठ आजीविका, संतुलित व्यय, अर्थ संग्रह, सदुपयोग आदि तत्कालीन अर्थ प्रबन्धन के मुख्य घटक थे। अर्थ प्राप्ति के सात स्त्रोत हैं— दाय, लाभ, क्रीत, विजय प्राप्त, प्रयोग (कुसीद कर्म), कर्मयोग (कृषि, वाणिज्य, व्यापार से प्राप्त) सत्प्रतिग्रह (दान से प्राप्त)¹ आचार्य दण्डी ने कृषि, पशुपालन, व्यापार और संधिविग्रह को अर्थ का परिवार कहा है।² श्री लक्ष्मीधर ने अर्थ के तीन स्त्रोत—श्वेत, शवल तथा कृष्ण निर्दिष्ट किये हैं। 'श्वेत' अर्थ में दायभाग, दहेज, आदि से प्राप्त एवं उपहार द्वारा प्राप्त धन होता है। 'शवल' अर्थ में उत्कोच निषिद्ध पदार्थ से अर्जित धन (लाख, नमक आदि हीन पदार्थों के व्यापार से प्राप्त) धन सम्मिलत है। 'कृष्ण' अर्थ में घूत, क्रीड़ा, चोरी, डकेती, भीख, धोखेबाजी, गबन आदि से प्राप्त धन आता है। इनमें श्वेत अर्थ पवित्र तथा उन्नयन का परिचायक है। अतः श्वेत-अर्थ की प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील होने का सन्देश दिया गया है।

प्राचीन भारतीय चिन्तकों ने अर्थ को साध्य नहीं अपितु साधन माना है। अर्थ-प्राप्ति का उद्देश्य धर्माचरण एवं उपभोग है। महाकवि भर्तुहरि ने धन की तीन गतियां— दान, उपभोग तथा नाश निर्दिष्ट की

¹ मनुस्मृति

² दशकुमारचरितम्

है।³ धर्म के अन्तर्गत मनुष्य के व्यक्तिगत पारिवारि एवं सामाजिक कर्तव्यों का समावेश है इसके लिये सद्वृत्ति द्वारा संप्राप्त धन को ही प्रशस्य माना गया है इस प्रकार अर्थ-प्राप्ति के प्रयत्नों को धर्म द्वारा समुचित रूपेण मर्यादित रखा गया है। आचार्य मनु ने अर्थ-संग्रह के पांच नियम निर्धारित किये हैं— 1. प्राणियों को कष्ट दिये बिना 2. स्वयं के शरीर को अत्यत्य उत्तम कष्ट द्वारा 3. पुरुषार्थ द्वारा 4. गर्हित या निन्दित कर्म के बिना 5. अर्थोपार्जन के कारण स्वाध्याय में विघ्न के बिना—

अद्रोहेण भूताना मत्यप्ल द्रोहेण वा पुनः ।
वृत्तिसतां समारथाय विप्रो जीवेदनापदि ॥
यात्रामात्रं प्रसिद्धयर्थं स्वेकर्मभिरगहितैः ।
अवलेशेन शरीरस्य कुर्वीत धनसंचयः ॥
सर्वान् परित्जेदर्थान् स्वाध्यायस्य विरोधिनः ।⁴

इन उपायों से अर्जित अर्थ ही सर्वरूपेण पवित्र है तथा लोक-परलोक में सुख-प्रदाता है।

वैदिक साहित्य में सुदृढ़ एवं सुव्यवस्थित अर्थव्यवस्था का वर्णन प्राप्त होता है। वैदिक काल में स्वर्ण, रजत, लौह से निर्मित किलों का निर्माण, कर्मकाण्ड का उद्भव आर्थिक सम्पन्नता का सूचक है। विशाल परिमाण वाले यज्ञों की समाप्ति पर पुरोहितों का दान स्वरूप दी गई विशाल धनराशि धन के सुव्यवस्थित अर्जन का संकेत थी। इस आर्थिक व्यवस्था के मूल में अनेक व्यवसाय थे— कृषि, वाणिज्य, शिल्पकला, उद्योग आदि।

कृषि— संस्कृत वाङ्मय में आजीविका अथवा अर्थ प्राप्ति का प्राथमिक व महत्वपूर्ण स्रोत ‘कृषि’ था। मेधावी, विद्वान व्यक्ति ही कृषि से सम्बद्ध थे कृषि गौरव तथा पवित्रता का कार्य था। आर्यों ने वन्य प्रदेशों को स्वच्छ करके क्षेत्र व निवास योग्य के रूप में परिणत किया। भूमिगत जलान्वित क्षेत्र अन्नस्वती तथा अनुपजाऊ ‘अर्तना’ अभिहित किया गया।⁵ कृषि विद्या के आविष्कारक थे जिन्होंने पथरीली भूमि को कृषि योग्य किया।⁶ कृषि कर्म में भूमि, खाद, बीज, पानी आदि का सम्यक प्रबन्धन वैदिक साहित्य की अनुपम देन है जो वर्तमान में भी यथावत् है। कृषक का खेत पर पूर्ण अधिकार होता था। उत्तम बीजों तथा

³ नीतिशतक⁴ मनुस्मृति⁵ ऋ. 10.117.6⁶ अर्थव्यवस्था: कृषि सूक्त

गोबर—खाद का प्रयोग किया जाता था।⁷ श्रेष्ठ अपवाह प्रणाली के निर्माण से जल का अधिकतम सदुपयोग किया जाता था।⁸ सिंचाई के लिये कूप खोदे जाते थे।⁹ मुख्यतः कृषि वर्षा पर ही आश्रित थी। गांव आवास, कृषिभूमि, गोचरभूमि आदि से युक्त एवं विविध धन धान्य, ग्राम्य पशुओं से परिपूर्ण थे।¹⁰ संहिताओं में कृषि, अन्धान्य, शस्य, कीनाश, लाड्गुल, वाह आदि कृषि सम्बद्ध पदार्थों का बारबार उल्लेख प्राप्त होता है।¹¹ किसान कुदाली तोड़कर धरती की परत तोड़ते थे। छोटे—छोटे खेत दूर—दूर तक फेले रहते थे।¹² उपजाऊ व अनुपजाऊ दो प्रकार के खेतों को हल्लों से जोतकर श्रेष्ठ बनाया जाता था।¹³

वैदिक व परिवर्ती साहित्य में ब्रह्म, यव, मुदग, माप, गोधूम, नीवार, प्रिमंगु (मसूर) श्यामाक, तिल, खीरा (उर्वरक) आदि का अनेकशः उल्लेख मिलता है। प्रभूत मात्रा में उत्पन्न इन उत्पादों का संरक्षण व निर्यात के विविध स्वरूप संस्कृत साहित्य में वर्णित है।

उद्योग—वैदिक काल से लेकर परिवर्ती संस्कृत साहित्य में विभिन्न कृषि व औद्योगिक शिल्पों से उत्पन्न वस्तुओं का संकेत प्राप्त होता है। काष्ठ उद्योगों में हल के जुए, शकट, रथ, शिविका आदि के निर्माण विधियों व मांग के विषय में प्रभूत यितंन किया गया है।¹⁴ नाव व द्रोणी तटीय क्षेत्रों में तथा वसन्तोत्सव में सर्वत्र काठ के झूले बनाये जाते थे।¹⁵

उद्योग में विभिन्न आकरों की प्राप्ति व संरक्षण का निर्देश किया गया है। स्वर्ण, रजत, ताम्र, लौह, अम्बर आदि के विपुल भण्डार देश की समृद्धि के घोतक थे।¹⁶ धातुगलाने की भटिट, हेम, वज्र, वैदूर्य, स्फटिक, रत्न, मणि, मुक्ता आदि की सूचना प्राप्त होती है। अयस् लौह, त्रिपु (टिन) सीसा आदि से विविध आभूषण व घरेलू उपयोग की सामग्री निर्मित की जाती थी। एक अभिलेख में सुनार, लुहार, कंसार, पीतलहार आदि धातु कर्मियों का उल्लेख प्राप्त होता है।¹⁷

वस्त्र उद्योग वैदिक काल से ही अत्यन्त उन्नत व समृद्ध था। मुख्यतः चार प्रकार के वस्त्रों का विवरण है— कौशेय, कार्पास, वारकाश तथा लोमश।¹⁸ चीन, पट्टचीन, महानेत्र दुकूल, मृदुदुकूल, दुकूल

⁷ ऋ.10.101.13⁸ ऋ.10.101.5⁹ वर्षी 10.25.4¹⁰ ह.पु.212¹¹ ऋग्यद, क्षेत्रपति सूक्त¹² हर्षचरितः एक संस्कृतिक अध्ययन पृ.179¹³ पदमचरित में प्रतिपादित भारतीय संस्कृति पृ. 183¹⁴ ह.पु. 49.16, 8 / 134¹⁵ ह.पु. 4 / 248¹⁶ हवनसाग्र की भारत यात्रा पृ. 62¹⁷ द इकोनामिक हिस्ट्री ऑफ नार्दन इण्डिया: पृ. 237¹⁸ युवितकल्पतरू— पृ. 39-40

पटसाटिका, कम्बल आदि कई प्रकार के वस्त्रों की सूचना मिलती है।¹⁹ मिश्रित रंगों के वस्त्र भी बनते थे।²⁰ इनके अतिरिक्त चर्म उद्योग, रंग उद्योग, तेल उद्योग, नमक उद्योग सुरा उद्योग, औषधि उद्योग, श्रृंगार उद्योग, हाथीदांत उद्योग व पुष्प उद्योग²¹ आदि का प्रभूत चित्रण संस्कृत साहित्य में प्राप्त होता है।

वाणिज्य व्यापार— औद्योगिक शिल्पों से उत्पन्न वस्तुओं तथा कृषिजन्य उत्पादों के विपणन हेतु श्रेष्ठ व्यापारिक-प्रणाली का निर्देश साहित्य में किया जाता था। नगर, आन्तरिक व्यापार के महत्वपूर्ण केन्द्र थे जिनमें मणि, रत्न, मसाले, मध्य, खाद्य पदार्थ आदि का विपणन किया जाता था।²² विदेशी राज्यों से भी आयात-निर्यात किया जाता था। चीन से वस्त्र का आयात तथा सूती वस्त्र का निर्यात किया जाता था। भड़ौच, ताप्रलिपि आदि बन्दरगाह, फारस, अरब, आदि देशों में भारतीय वस्तुओं के निर्यात-केन्द्र थे।

भारतीय संस्कृति में आर्थिक चिन्तन, नियोजन, उन्नति आदि धमावलम्बित थी। मुनाफा, ब्याज के अर्जन में भी नैतिकता का योग था। 'न वितेन तर्पणीयो मनुष्यः' 'पुष्पं पुष्पं विचिन्नत, मूलच्छेदं न कारयेत' 'षष्ठांशवृत्तेरपि धर्म एवः' 'यदग्रस्य ग्रसितुं गस्यम् आदि वाक्य धन को साधन एवं संतुलित सम्प्राप्ति के योग्य मानते हैं। 'शतहस्त समाहर सहस्रेण विकिर-' उद्घोष भारतीमाता के नैतिक उन्नयन का ध्येय रहा है। 'भरणाद् षोषणाद्वा भारतमुच्यते'- 'भारत' पद की समुचित व्याख्या है। भारतीय आर्थिक चिन्तन वैयक्तिक, सामाजिक राष्ट्रिय, उन्नयन के साथ-साथ वैश्विक आवश्यकताओं की पूर्ति को केन्द्रित करते हुए किया गया है। सामग्रियों के न्यायोचित वितरण, संग्रहण के साथ-साथ सार्वजनीन सम्भाव को प्रत्येक आर्थिक गतिविधि में सम्मिलित किया गया है। सन्तुलित उपभोग, प्रभूत उत्पत्ति व वितरण ही भारतीय संस्कृति का आदर्श रहा है। उपभोग की अपेक्षा दान प्रशस्त माना गया है। आर्यों के जीवन की प्रत्येक गतिविधि में उपहार, दान, सहयोग के रूप में संस्कृति का अनुपम रूप है। आज वैश्विक अर्थव्यवस्थ के ह्लास से उत्पन्न विषम परिस्थितियों का समाधान भारतीय आर्थिक अनुचितं के अनुसरण से ही अनुकूल किया जा सकता है।

¹⁹ ह.पु. 7.87²⁰ वहीं 26/8²¹ वहीं 26/8, 14.76, 54.6, 3.112, 5.628, 3/96, 16.41, 7.88²² दण्डकुमार, चरित: वर्णिङ 1.1